

समयसार कलश पद्यानुवाद

जीवाजीवाधिकार

(दोहा)

निज अनुभूति से प्रगट, चित्स्वभाव चिद्रूप ।
सकलज्ञेय ज्ञायक नमों, समयसार सदरूप ॥१॥

(सोरठा)

देखे पर से भिन्न, अगणित गुणमय आतमा ।
अनेकान्तमयमूर्ति, सदा प्रकाशित ही रहे ॥२॥

(रोला)

यद्यपि मैं तो शुद्धमात्र चैतन्यमूर्ति हूँ ।
फिर भी परिणति मलिन हुई है मोहोदय से ॥
परमविशुद्धि को पावे वह परिणति मेरी ।
समयसार की आत्मख्याति नामक व्याख्या से ॥३॥
उभयनयों में जो विरोध है उसके नाशक ।
स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं ॥
मोह वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय ।
स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं ॥४॥
ज्यों दुर्बल को लाठी है हस्तावलम्ब त्यों ।
उपयोगी व्यवहार सभी को अपरमपद में ॥
पर उपयोगी नहीं रंच भी उन लोगों को ।
जो रमते हैं परम-अर्थ चिन्मय चिद्घन में ॥५॥

(हरिगीत)

नियत है जो स्वयं के एकत्व में नय शुद्ध से ।
वह ज्ञान का घनपिण्ड पूरण पृथक् है परद्रव्य से ॥

नवतत्त्व की संतति तज बस एक यह अपनाइये ।
इस आतमा का दर्श दर्शन आतमा ही चाहिए ॥६॥

(दोहा)

शुद्धनयाश्रित आतमा, प्रगटे ज्योतिस्वरूप ।
नवतत्त्वों में व्याप्त पर, तजे न एकस्वरूप ॥७॥

(रोला)

शुद्ध कनक ज्यों छुपा हुआ है बानभेद में ।
नवतत्त्वों में छुपी हुई त्यों आत्मज्योति है ॥
एकरूप उद्योतमान पर से विविक्त वह ।
अरे भव्यजन ! पद-पद पर तुम उसको जानों ॥८॥
निक्षेपों के चक्र विलय नय नहीं जनमते ।
अर प्रमाण के भाव अस्त हो जाते भाई ॥
अधिक कहें क्या द्वैतभाव भी भासित ना हो ।

शुद्ध आतमा का अनुभव होने पर भाई ॥९॥

(हरिगीत)

परभाव से जो भिन्न है अर आदि-अन्त विमुक्त है ।
संकल्प और विकल्प के जंजाल से भी मुक्त है ॥
जो एक है परिपूर्ण है - ऐसे निजात्मस्वभाव को ।
करके प्रकाशित प्रगट होता है यहाँ यह शुद्धनय ॥१०॥
पावें न जिसमें प्रतिष्ठा बस तैरते हैं बाह्य में ।
ये बद्धस्पृष्टादि सब जिसके न अन्तरभाव में ॥
जो है प्रकाशित चतुर्दिक उस एक आत्मस्वभाव का ।
हे जगतजन ! तुम नित्य ही निर्मोह हो अनुभव करो ॥११॥

(रोला)

अपने बल से मोह नाशकर भूत भविष्यत् ।
वर्तमान के कर्मबंध से भिन्न लखे बुध ॥

तो निज अनुभवगम्य आतमा सदा विराजित ।
विरहित कर्मकलंकपंक से देव शाश्वत ॥१२॥
शुद्धनयातम आतम की अनुभूति कही जो ।
वह ही है ज्ञानानुभूति तुम यही जानकर ॥
आतम में आतम को निश्चल थापित करके ।
सर्व ओर से एक ज्ञानघन आतम निरखो ॥१३॥
खारेपन से भरी हुई ज्यों नमक डली है ।
ज्ञानभाव से भरा हुआ त्यों निज आतम है ॥
अन्तर-बाहर प्रगट तेजमय सहज अनाकुल ।
जो अखण्ड चिन्मय चिद्घन वह हमें प्राप्त हो ॥१४॥

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये ।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय आतमा अपनाइये ॥
बस साध्य-साधक भाव से इस एक को ही ध्याइये ।
अर आप भी पर्याय में परमातमा बन जाइये ॥१५॥
मेचक कहा है आतमा दृग ज्ञान अर आचरण से ।
यह एक निज परमातमा बस है अमेचक स्वयं से ॥
परमाण से मेचक-अमेचक एक ही क्षण में अहा ।
यह अलौकिक मर्मभेदी वाक्य जिनवर ने कहा ॥१६॥
आतमा है एक यद्यपि किन्तु नयव्यवहार से ।
त्रैरूपता धारण करे सद्ज्ञानदर्शनचरण से ॥
बस इसलिए मेचक कहा है आतमा जिनमार्ग में ।
अर इसे जाने बिन जगतजन ना लगे सन्मार्ग में ॥१७॥
आतमा मेचक कहा है यद्यपि व्यवहार से ।
किन्तु वह मेचक नहीं है अमेचक परमार्थ से ॥

है प्रगट ज्ञायक ज्योतिमय वह एक है भूतार्थ से ।
 है शुद्ध एकाकार पर से भिन्न है परमार्थ से ॥१८॥
 मेचक अमेचक आतमा के चिन्तवन से लाभ क्या ।
 बस करो अब तो इन विकल्पों से तुम्हें है साध्य क्या ॥
 हो साध्यसिद्धि एक बस सद्ज्ञानदर्शनचरण से ।
 पथ अन्य कोई है नहीं जिससे बचे संसरण से ॥१९॥
 त्रैरूपता को प्राप्त है पर ना तजे एकत्व को ।
 यह शुद्ध निर्मल आत्मज्योति प्राप्त है जो स्वयं को ॥
 अनुभव करें हम सतत ही चैतन्यमय उस ज्योति का ।
 क्योंकि उसके बिना जग में साध्य की हो सिद्धि ना ॥२०॥

(रोला)

जैसे भी हो स्वतः अन्य के उपदेशों से ।
 भेदज्ञानमूलक अविचल अनुभूति हुई हो ॥
 ज्ञेयों के अगणित प्रतिबिम्बों से वे ज्ञानी ।
 अरे निरन्तर दर्पणवत् रहते अविकारी ॥२१॥

(हरिगीत)

आजन्म के इस मोह को हे जगतजन तुम छोड़ दो ।
 अर रसिकजन को जो रुचे उस ज्ञान के रस को चखो ॥
 तादात्म्य पर के साथ जिनका कभी भी होता नहीं ।
 अर स्वयं का ही स्वयं से अन्यत्व भी होता नहीं ॥२२॥
 निजतत्त्व का कौतूहली अर पड़ौसी बन देह का ।
 हे आत्मन् ! जैसे बने अनुभव करो निजतत्त्व का ॥
 जब भिन्न पर से सुशोभित लख स्वयंको तब शीघ्र ही ।
 तुम छोड़ दोगे देह से एकत्व के इस मोह को ॥२३॥

लोकमानस रूप से रवितेज अपने तेज से ।
 जो हरे निर्मल करें दशदिश कान्तिमय तनतेज से ॥
 जो दिव्यध्वनि से भव्यजन के कान में अमृत भरें ।
 उन सहस्र अठ लक्षण सहित जिन-सूरि को वंदन करें ॥२४॥
 प्राकार से कवलित किया जिस नगर ने आकाश को ।
 अर गोल गहरी खाई से है पी लिया पाताल को ॥
 सब भूमितल को ग्रस लिया उपवनों के सौन्दर्य से ।
 अद्भुत् अनूपम अलग ही है वह नगर संसार से ॥२५॥
 गंभीर सागर के समान महान मानस मंग हैं ।
 नित्य निर्मल निर्विकारी सुव्यवस्थित अंग हैं ॥
 सहज ही अद्भुत् अनूपम अपूर्व लावण्य है ।
 क्षोभ विरहित अर अचल जयवंत जिनवर अंग हैं ॥२६॥
 इस आतमा अर देह का एकत्व बस व्यवहार से ।
 यह शरीराश्रित स्तवन भी इसलिए व्यवहार से ॥
 परमार्थ से स्तवन है चिद्भाव का ही अनुभवन ।
 परमार्थ से तो भिन्न ही हैं देह अर चैतन्यघन ॥२७॥
 इस आतमा अर देह के एकत्व को नय युक्ति से ।
 निर्मूल ही जब कर दिया तत्त्वज्ञ मुनिवरदेव ने ॥
 यदि भावना है भव्य तो फिर क्यों नहीं सद्बोध हो ।
 भावोल्लसित आत्मार्थियों को नियम से सद्बोध हो ॥२८॥
 परभाव के परित्याग की दृष्टि पुरानी न पड़े ।
 अर जबतलक हे आत्मन् वृत्ति न हो अतिबलवती ॥
 व्यतिरिक्त जो परभाव से वह आतमा अतिशीघ्र ही ।
 अनुभूति में उतरा अरे चैतन्यमय वह स्वयं ही ॥२९॥
 सब ओर से चैतन्यमय निजभाव से भरपूर हूँ ।
 मैं स्वयं ही इस लोक में निजभाव का अनुभव करूँ ॥

यह मोह मेरा कुछ नहीं चैतन्य का घनपिण्ड हूँ ।
 हूँ शुद्ध चिद्घन महानिधि मैं स्वयं एक अखण्ड हूँ ॥३०॥
 बस इसतरह सब अन्यभावों से हुई जब भिन्नता ।
 तब स्वयं को उपयोग ने स्वयमेव ही धारण किया ॥
 प्रकटित हुआ परमार्थ अर दृग ज्ञानवृत परिणत हुआ ।
 तब आतमा के बाग में आतम रमण करने लगा ॥३१॥
 सुख शान्तरस से लबालब यह ज्ञानसागर आतमा ।
 विभरम की चादर हटा सर्वांग परगट आतमा ॥
 हे भव्यजन ! इस लोक के सब एकसाथ नहाइये ।
 अर इसे ही अपनाइये इसमें मगन हो जाइये ॥३२॥

(सवैया इकतीसा)

जीव और अजीव के विवेक से है पुष्ट जो,
 ऐसी दृष्टि द्वारा इस नाटक को देखता ।
 अन्य जो सभासद हैं उन्हें भी दिखाता और,
 दुष्ट अष्ट कर्मों के बंधन को तोड़ता ॥
 जाने लोकालोक को पै निज में मगन रहे,
 विकसित शुद्ध नित्य निज अवलोकता ।
 ऐसो ज्ञानवीर धीर मंग भरे मन में,
 स्वयं ही उदात्त और अनाकुल सुशोभता ॥३३॥

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! क्या लाभ है इस व्यर्थ के बकवाद से ।
 अब तो रुको निज को लखो अध्यात्म के अभ्यास से ॥
 यदि अनवरत छहमास हो निज आतमा की साधना ।
 तो आतमा की प्राप्ति हो सन्देह इसमें रंच ना ॥३४॥

चैतन्यशक्ति से रहित परभाव सब परिहार कर ।
 चैतन्यशक्ति से सहित निजभाव नित अवगाह कर ॥
 है श्रेष्ठतम जो विश्व में सुन्दर सहज शुद्धात्मा ।
 अब उसी का अनुभव करो तुम स्वयं हे भव्यात्मा ॥३५॥

(दोहा)

चित् शक्ति सर्वस्व जिन केवल वे हैं जीव ।
 उन्हें छोड़कर और सब पुद्गलमयी अजीव ॥३६॥
 वर्णादिक रागादि सब हैं आतम से भिन्न ।
 अन्तर्दृष्टि देखिये दिखे एक चैतन्य ॥३७॥
 जिस वस्तु से जो बने, वह हो वही न अन्य ।
 स्वर्णम्यान तो स्वर्ण है, असि है उससे अन्य ॥३८॥
 वर्णादिक जो भाव हैं, वे सब पुद्गल जन्य ।
 एक शुद्ध विज्ञानघन आतम इनसे भिन्न ॥३९॥
 कहने से घी का घड़ा, घड़ा न घीमय होय ।
 कहने से वर्णादिमय जीव न तन्मय होय ॥४०॥
 स्वानुभूति में जो प्रगट, अचल अनादि अनन्त ।
 स्वयं जीव चैतन्यमय, जगमगात अत्यन्त ॥४१॥

(सवैया इकतीसा)

मूर्तिक अमूर्तिक अजीव द्रव्य दो प्रकार,
 इसलिए अमूर्तिक लक्षण न बन सके ।
 सोचकर विचारकर भलीभांति ज्ञानियों ने,
 कहा वह निर्दोष लक्षण जो बन सके ।
 अतिव्याप्ति अव्याप्ति दोषों से विरहित,
 चैतन्यमय उपयोग लक्षण है जीव का ।
 अतः अवलम्ब लो अविलम्ब इसका ही,
 क्योंकि यह भाव ही है जीवन इस जीव का ॥४२॥

(हरिगीत)

निज लक्षणों की भिन्नता से जीव और अजीव को ।
जब स्वयं से ही ज्ञानिजन भिन्न-भिन्न ही हैं जानते ॥
जग में पड़े अज्ञानियों का अमर्यादित मोह यह ।
अरे तब भी नाचता क्यों खेद है आश्चर्य है ॥४३॥

अरे काल अनादि से अविवेक के इस नृत्य में ।
बस एक पुद्गल नाचता चेतन नहीं इस कृत्य में ॥
यह जीव तो पुद्गलमयी रागादि से भी भिन्न है ।
आनन्दमय चिद्धाव तो दृग्ज्ञानमय चैतन्य है ॥४४॥

जब इसतरह धाराप्रवाही ज्ञान का आरा चला ।
तब जीव और अजीव में अतिविकट विघटन होचला ॥
अब जबतलक हों भिन्न जीव-अजीव उसके पूर्व ही ।
यहज्ञान का घनपिण्ड निज ज्ञायक प्रकाशित हो उठा ॥४५॥

कर्त्ताकर्माधिकार

(हरिगीत)

मैं एक कर्ता आत्मा क्रोधादि मेरे कर्म सब ।
है यही कर्ताकर्म की यह प्रवृत्ति अज्ञानमय ॥
शमन करती इसे प्रगटी सर्व विश्व विकाशनी ।
अतिधीर परमोदात्त पावन ज्ञानज्योति प्रकाशनी ॥४६॥

परपरिणति को छोड़ती अर तोड़ती सब भेदभ्रम ।
यह अखण्ड प्रचण्ड प्रगटित हुई पावन ज्योति जब ॥
अज्ञानमय इस प्रवृत्ति को है कहाँ अवकाश तब ।
अर किसतरह हो कर्मबंधन जगी जगमग ज्योति जब ॥४७॥

(सवैया इकतीसा)

इसप्रकार जान भिन्नता विभावभाव की,
कर्तृत्व का अहं विलायमान हो रहा ।
निज विज्ञानघनभाव गजारूढ़ हो,
निज भगवान शोभायमान हो रहा ॥

जगत का साक्षी पुरुषपुराण यह,
अपने स्वभाव में विकासमान हो रहा ।
अहो सदज्ञानवंत दृष्टिवंत यह पुमान,
जग-मग ज्योतिमय प्रकाशमान हो रहा ॥४८॥

तत्स्वरूप भाव में ही व्याप्य-व्यापक बने,
बने न कदापि वह अतत्स्वरूप भाव में ॥
कर्त्ता-कर्म भाव का बनना असंभव है,
व्याप्य-व्यापकभाव संबंध के अभाव में ।

इस भांति प्रबल विवेक दिनकर से ही,
भेद अंधकार लीन निज ज्ञानभाव में ।
कर्तृत्व भार से शून्य शोभायमान,
पूर्ण निर्भार मगन आनन्द स्वभाव में ॥४९॥

निजपरपरिणति जानकार जीव यह,
परपरिणति को करता कभी नहीं ।
निजपरपरिणति अजानकार पुद्गल,
परपरिणति को करता कभी नहीं ॥

नित्य अत्यन्त भेद जीव-पुद्गल में,
करता-करमभाव उनमें बने नहीं,
ऐसो भेदज्ञान जबतक प्रगटे नहीं,
करता-करम की प्रवृत्ति मिटे नहीं ॥५०॥

(हरिगीत)

कर्ता वही जो परिणमे परिणाम ही बस कर्म है ।
 है परिणति ही क्रिया बस तीनों अभिन्न अखण्ड हैं ॥५१॥
 अनेक होकर एक है हो परिणमित बस एक ही ।
 परिणाम हो बस एक का हो परिणति बस एक की ॥५२॥
 परिणाम दो का एक ना मिलकर नहीं दो परिणमे ।
 परिणति दो की एक ना बस क्योंकि दोनों भिन्न हैं ॥५३॥
 कर्ता नहीं दो एक के हों एक के दो कर्म ना ।
 ना दो क्रियायें एक की हों क्योंकि एक अनेक ना ॥५४॥
 'पर को करूं मैं' - यह अहं अत्यन्त ही दुर्वार है ।
 यह है अखण्ड अनादि से जीवन हुआ दुःस्वार है ॥
 भूतार्थनय के ग्रहण से यदि प्रलय को यह प्राप्त हो ।
 तो ज्ञान के घनपिण्ड आत्म को कभी न बंध हो ॥५५॥

(दोहा)

परभावों को पर करे आत्म आत्मभाव ।
 आप आपके भाव हैं पर के हैं परभाव ॥५६॥

(कुण्डलिया)

नाज सम्मिलित घास को, ज्यों खावे गजराज ।
 भिन्न स्वाद जाने नहीं, समझे मीठी घास ॥
 समझे मीठी घास नाज को न पहिचाने ।
 त्यों अज्ञानी जीव निजातम स्वाद न जाने ॥
 पुण्य-पाप में धार एकता शून्य हिया है ।
 अरे शिखरणी पी मानो गो दूध पिया है ॥५७॥

(हरिगीत)

अज्ञान से ही भागते मृग रेत को जल मानकर ।
 अज्ञान से ही डरें तम में रस्सी विषधर मानकर ॥
 ज्ञानमय है जीव पर अज्ञान के कारण अहो ।
 वातोद्वेलित उदधिवत कर्ता बने आकुलित हो ॥५८॥
 दूध जल में भेद जाने ज्ञान से बस हंस ज्यों ।
 सदज्ञान से अपना-पराया भेद जाने जीव त्यों ॥
 जानता तो है सभी करता नहीं कुछ आत्मा ।
 चैतन्य में आरूढ़ नित ही यह अचल परमात्मा ॥५९॥

(आडिल्ल छन्द)

उष्णोदक में उष्णता है अग्नि की ।
 और शीतलता सहज ही नीर की ॥
 व्यंजनों में है नमक का क्षारपन ।
 ज्ञान ही यह जानता है विज्ञजन ॥
 क्रोधादिक के कर्तापन को छेदता ।
 अहंबुद्धि के मिथ्यातम को भेदता ॥
 इसी ज्ञान में प्रगटे निज शुद्धात्मा ।
 अपने रस से भरा हुआ यह आत्मा ॥६०॥

(सोरठा)

करे निजातम भाव, ज्ञान और अज्ञानमय ।
 करे न पर के भाव, ज्ञानस्वभावी आत्मा ॥६१॥
 ज्ञानस्वभावी जीव, करे ज्ञान से भिन्न क्या ?
 कर्ता पर का जीव, जगतजनों का मोह यह ॥६२॥

(दोहा)

यदि पुद्गलमय कर्म को करे न चेतनराय ।
 कौन करे - अब यह कहें सुनो भरम नश

ज १ य । । ६ ३ । ।

(हरिगीत)

सब पुद्गलों में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उनके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
सहज ही यह नियम जानो वस्तु के परिणमन का ॥६४॥
आत्मा में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
सहज ही यह नियम जानो वस्तु के परिणमन का ॥६५॥

(रोला)

ज्ञानी के सब भाव शुभाशुभ ज्ञानमयी हैं ।
अज्ञानी के वही भाव अज्ञानमयी हैं ॥
ज्ञानी और अज्ञानी में यह अन्तर क्यों है ।
तथा शुभाशुभ भावों में भी अन्तर क्यों है ॥६६॥
ज्ञानी के सब भाव ज्ञान से बने हुए हैं ।
अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमयी हैं ॥
उपादान के ही समान कारज होते हैं ।
जौ बौने पर जौ ही तो पैदा होते हैं ॥६७॥

(दोहा)

अज्ञानी अज्ञानमय भावभूमि में व्याप्त ।
इसकारण द्रवबंध के हेतुपने को प्राप्त ॥६८॥

(सोरठा)

जो निवसे निज माहि छोड़ सभी नय पक्ष को ।

करे सुधारस पान निर्विकल्प चित शान्त हो ॥६९॥

(रोला)

एक कहे ना बंधा दूसरा कहे बंधा है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७०॥
एक कहे ना मूढ़ दूसरा कहे मूढ़ है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७१॥
एक कहे ना रक्त दूसरा कहे रक्त है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७२॥
एक कहे ना दुष्ट दूसरा कहे दुष्ट है,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७३॥
एक अकर्ता कहे दूसरा कर्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,
उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७४॥
एक अभोक्ता कहे दूसरा भोक्ता कहता,
किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं,

उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८८॥
 एक कहे ना भात दूसरा कहे भात है,
 किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है ।
 पक्षपात से रहित तत्ववेदी जो जन हैं,
 उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८९॥
 (हरिगीत)
 उठ रहा जिसमें है अनन्ते विकल्पों का जाल है ।
 वह वृहद् नयपक्षकक्षा विकट है विकराल है ॥
 उल्लंघन कर उसे बुध अनुभूतिमय निजभाव को ।
 हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से समरसी एक स्वभाव को ॥९०॥
 (दोहा)
 इन्द्रजाल से स्फुरें, सब विकल्प के पुंज ।
 जो क्षणभर में लय करे, मैं हूँ वह चित्पुंज ॥९१॥
 (रोला)
 मैं हूँ वह चित्पुंज कि भावाभावभावमय ।
 परमारथ से एक सदा अविचल स्वभावमय ॥
 कर्मजनित यह बंधपद्धति करूँ पार मैं ।
 नित अनुभव यह करूँ किचिन्मय समयसार मैं ॥९२॥
 (हरिगीत)
 यह पुण्य पुरुष पुराण सब नयपक्ष बिन भगवान है ।
 यह अचल है अविकल्प है बस यही दर्शन ज्ञान है ॥
 निभृतजनों का स्वाद्य है अर जो समय का सार है ।
 जो भी हो वह एक ही अनुभूति का आधार है ॥९३॥
 निज औघ से च्युत जिसतरह जल ढालवाले मार्ग से ।
 बलपूर्वक यदि मोड़ दें तो आ मिले निज औघ से ॥
 उस ही तरह यदि मोड़ दें बलपूर्वक निजभाव को ।

निजभाव से च्युत आत्मा निजभाव में ही आ
 मि म ल १ ४ । ।
 (रोला)
 है विकल्प ही कर्म विकल्पक कर्ता होवे ।
 जो विकल्प को करे वही तो कर्ता होवे ॥
 नित अज्ञानी जीव विकल्पों में ही होवे ।
 इस विधि कर्ताकर्मभाव का नाश न होवे ॥९५॥
 जो करता है वह केवल कर्ता ही होवे ।
 जो जाने बस वह केवल ज्ञाता ही होवे ॥
 जो करता वह नहीं जानता कुछ भी भाई ।
 जो जाने वह करे नहीं कुछ भी हे भाई ॥९६॥
 करने रूप क्रिया में जानन भासित ना हो ।
 जानन रूप क्रिया में करना भासित ना हो ॥
 इसीलिए तो जानन-करना भिन्न-भिन्न हैं ।
 इसीलिए तो ज्ञाता-कर्ता भिन्न-भिन्न हैं ॥९७॥
 (हरिगीत)
 करम में कर्ता नहीं है अर कर्म कर्ता में नहीं ।
 इसलिए कर्ताकर्म की थिति भी कभी बनती नहीं ॥
 कर्म में है कर्म ज्ञाता में रहा ज्ञाता सदा ।
 यदि साफ है यह बात तो फिर मोह है क्यों नाचता? ॥९८॥
 (सबैया इकतीसा)
 जगमग जगमग जली ज्ञानज्योति जब,
 अति गंभीर चित् शक्तियों के भार से ॥
 अद्भुत अनूपम अचल अभेद ज्योति,
 व्यक्त धीर-वीर निर्मल आर-पार से ॥
 तब कर्म कर्म अर कर्ता कर्ता न रहा ।
 ज्ञान ज्ञानरूप हुआ आनन्द अपार से ॥

और पुद्गलमयी कर्म कर्मरूप हुआ,
ज्ञानी पार हुए भवसागर अपार से ॥१९॥

पुण्यपापाधिकार

(हरिगीत)

शुभ अर अशुभ के भेद से जो दोपने को प्राप्त हो ।
वह कर्म भी जिसके उदय से एकता को प्राप्त हो ॥
जब मोहरज का नाश कर सम्यक् सहित वह स्वयं ही ।
जग में उदय को प्राप्त हो वह सुधानिर्झर ज्ञान ही ॥१००॥

(रोला)

दोनों जन्मे एक साथ शूद्रा के घर में ।
एक पला बामन के घर दूजा निज घर में ॥
एक छुए ना मद्य ब्राह्मणत्वाभिमान से ।
दूजा डूबा रहे उसी में शूद्रभाव से ॥
जातिभेद के भ्रम से ही यह अन्तर आया ।
इस कारण अज्ञानी ने पहिचान न पाया ॥
पुण्य-पाप भी कर्म जाति के जुड़वा भाई ।
दोनों ही हैं हेय मुक्ति मारग में भाई ॥१०१॥
अरे पुण्य अर पाप कर्म का हेतु एक है ।
आश्रय अनुभव अर स्वभाव भी सदा एक है ॥
अतः कर्म को एक मानना ही अभीष्ट है ।
भले-बुरे का भेद जानना ठीक नहीं है ॥१०२॥

(दोहा)

जिनवाणी का मर्म यह बंध करें सब कर्म ।
मुक्तिहेतु बस एक ही आत्मज्ञानमय धर्म ॥१०३॥

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से ।
अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव में ॥

अरे मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते ।
निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते ॥१०४॥
ज्ञानरूप ध्रुव अचल आतमा का ही अनुभव ।
मोक्षरूप है स्वयं अतः वह मोक्षहेतु है ॥
शेष भाव सब बंधरूप हैं बंधहेतु हैं ।
इसीलिए तो अनुभव करने का विधान है ॥१०५॥

(दोहा)

ज्ञानभाव का परिणमन ज्ञानभावमय होय ।
एकद्रव्यस्वभाव यह हेतु मुक्ति का होय ॥१०६॥
कर्मभाव का परिणमन ज्ञानरूप ना होय ।
द्रव्यान्तरस्वभाव यह इससे मुक्ति न होय ॥१०७॥
बंधस्वरूपी कर्म यह शिवमग रोकनहार ।
इसीलिए अध्यात्म में है निषिद्ध शतवार ॥१०८॥

(हरिगीत)

त्याज्य ही हैं जब मुमुक्षु के लिए सब कर्म ये ।
तब पुण्य एवं पाप की यह बात करनी किसलिए ॥
निज आतमा के लक्ष्य से जब परिणमन हो जायगा ।
निष्कर्म में ही रस जगे तब ज्ञान दौड़ा आयगा ॥१०९॥
यह कर्मविरति जबतलक ना पूर्णता को प्राप्त हो ।
हाँ, तबतलक यह कर्मधारा ज्ञानधारा साथ हो ॥
अवरोध इसमें है नहीं पर कर्मधारा बंधमय ।
मुक्तिमारग एक ही है, ज्ञानधारा मुक्तिमय ॥११०॥
कर्मनय के पक्षपाती ज्ञान से अनभिज्ञ हों ।
ज्ञाननय के पक्षपाती आलसी स्वच्छन्द हों ॥

जो ज्ञानमय हों परिणामित परमाद के वश में न हों ।
 कर्म विरहित जीव वे संसार-सागर पार हों ॥१११॥
 जग शुभ अशुभ में भेद माने मोह मदिरापान
 स ।
 पर भेद इनमें है नहीं जाना है सम्यग्ज्ञान से ॥
 यह ज्ञानज्योति तमविरोधी खेले केवलज्ञान से ।
 जयवंत हो इस जगत में जगमगै आतमज्ञान से ॥११२॥

आस्रवाधिकार

(हरिगीत)

इन द्रव्य कर्मों के पहाड़ों के निरोधक भाव जो ।
 हैं राग-द्वेष-विमोह बिन सदज्ञान निर्मित भाव जो ॥
 भावास्रवों से रहित वे इस जीव के निजभाव हैं ।
 वे ज्ञानमय शुद्धात्ममय निज आत्मा के भाव हैं ॥११४॥

(दोहा)

द्रव्यास्रव से भिन्न है भावास्रव को नाश ।
 सदा ज्ञानमय निरास्रव ज्ञायकभाव प्रकाश ॥११५॥

(कुण्डलिया)

स्वयं सहज परिणाम से कर दीना परित्याग ।
 सम्यग्ज्ञानी जीव ने बुद्धिपूर्वक राग ॥
 बुद्धिपूर्वक राग त्याग दीना है जिसने ।
 और अबुद्धिक राग त्याग करने को जिसने ॥
 निजशक्तिस्पर्श प्राप्त कर पूर्णभाव को ।
 रहे निरास्रव सदा उखाड़े परपरिणति को ॥११६॥

(दोहा)

द्रव्यास्रव की संतति विद्यमान सम्पूर्ण ।
 फिर भी ज्ञानी निरास्रव कैसे हो परिपूर्ण ॥११७॥

(हरिगीत)

पूर्व में जो द्रव्यप्रत्यय बंधे थे अब वे सभी ।
 निजकाल पाकर उदित होंगे सुप्त सत्ता में अभी ॥
 यद्यपी वे हैं अभी पर राग-द्वेषाभाव से ।
 अंतर अमोही ज्ञानियों को बंध होता है नहीं ॥११८॥

(दोहा)

राग-द्वेष अर मोह ही केवल बंधकभाव ।
 ज्ञानी के ये हैं नहीं तातैं बंध अभाव ॥११९॥

(हरिगीत)

सदा उद्धत चिह्न वाले शुद्धनय अभ्यास से ।
 निज आत्म की एकाग्रता के ही सतत् अभ्यास से ॥
 रागादि विरहित चित्तवाले आत्मकेन्द्रित ज्ञानिजन ।
 बंधविरहित अर अखण्डित आत्मा को देखते ॥१२०॥
 च्युत हुए जो शुद्धनय से बोध विरहित जीव वे ।
 पहले बंधे द्रव्यकर्म से रागादि में उपयुक्त हो ॥
 अरे विचित्र विकल्प वाले और विविध प्रकार के ।
 विपरीतता से भरे विध-विध कर्म का बंधन करें ॥१२१॥
 इस कथन का है सार यह कि शुद्धनय उपादेय है ।
 अर शुद्धनय द्वारा निरूपित आत्मा ही ध्येय है ॥
 क्योंकि इसके त्याग से ही बंध और अशान्ति है ।
 इसके ग्रहण में आत्मा की मुक्ति एवं शान्ति है ॥१२२॥
 धीर और उदार महिमायुत अनादि-अनंत जो ।
 उस ज्ञान में थिरता करे अर कर्मनाशक भाव जो ॥
 सदज्ञानियों को कभी भी वह शुद्धनय ना हेय है ।
 विज्ञानघन इक अचल आतम ज्ञानियों का ज्ञेय है ॥१२३॥
 निज आतमा जो परमवस्तु उसे जो पहिचानते ।

अर उसी में जो नित रमें अर उसे ही जो जानते ॥
वे आस्रवों का नाश कर नित रहें आतम ध्यान में ।
वे रहें निज में किन्तु लोकालोक उनके ज्ञान में ॥१२४॥

संवराधिकार

(हरिगीत)

संवरजयी मदमत्त आस्रवभाव का अपलाप कर ।
व्यावृत्य हो पररूप से सद्बोध संवर भास्कर ॥
प्रगटा परम आनन्दमय निज आत्म के आधार से ।
सद्ज्ञानमय उज्वल धवल परिपूर्ण निजरसभार से ॥१२५॥
यह ज्ञान है चिद्रूप किन्तु राग तो जड़रूप है ।
में ज्ञानमय आनन्दमय पर राग तो पररूप है ॥
इसतरह के अभ्यास से जब भेदज्ञान उदित हुआ ।
आनन्दमय रसपान से तब मनोभाव मुदित हुआ ॥१२६॥

(रोला)

भेदज्ञान के इस अविरल धारा प्रवाह से ।
कैसे भी कर प्राप्त करे जो शुद्धात्म को ॥
और निरन्तर उसमें ही थिर होता जावे ।
पर परिणति को त्याग निरन्तर शुध हो जावे ॥१२७॥
भेदज्ञान की शक्ति से निजमहिमा रत को ।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि निश्चित हो जावे ॥
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होने पर उसके ।
अतिशीघ्र ही सब कर्मों का क्षय हो जावे ॥१२८॥
आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो भेदज्ञान से ।
आत्मतत्त्व की उपलब्धि से संवर होता ॥
इसीलिए तो सच्चे दिल से नितप्रति करना ।

अरे भव्यजन ! भव्यभावना भेदज्ञान
क ी । । १ २ ९ । ।
अरे भव्यजन ! भव्यभावना भेदज्ञान की ।
सच्चे मन से बिन विराम के तबतक भाना ॥
जबतक पर से हो विरक्त यह ज्ञान ज्ञान में ।
ही थिर न हो जाय अधिक क्या कहें जिनेश्वर ॥१३०॥
अबतक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे ।
महिमा जानो एक मात्र सब भेदज्ञान की ॥
और जीव जो भटक रहे हैं भवसागर में ।
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं ॥१३१॥
भेदज्ञान से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हो ।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से रागनाश हो ॥
रागनाश से कर्मनाश अर कर्मनाश से ।
ज्ञान ज्ञान में थिर होकर शाश्वत हो जावे ॥१३२॥

निर्जराधिकार

(हरिगीत)

आगामि बंधन रोकने संवर सजग सन्नद्ध हो ।
रागादि के अवरोध से जब कर्म कस के खड़ा हो ॥
अर पूर्वबद्ध करम दहन को निरजरा तैयार हो ।
तब ज्ञानज्योति यह अरे नित ही अमूर्च्छित क्यों न हो ॥१३३॥
ज्ञानी बंधे ना कर्म से सब कर्म करते-भोगते ।
यह ज्ञान की सामर्थ्य अर वैराग्य का बल जानिये ॥१३४॥

(दोहा)

बंधे न ज्ञानी कर्म से, बल विराग अर ज्ञान ।
यद्यपि सेवें विषय को, तदपि असेवक जान ॥१३५॥

(हरिगीत)

निजभाव को निज जान अपनापन करें जो आतमा ।
 परभाव से हो भिन्न नित निज में रमें जो आतमा ॥
 वे आतमा सदृष्टि उनके ज्ञान अर वैराग्य बल ।
 हो नियम से—यह जानिये पहिचानिये निज आत्मबल ॥१३६॥
 मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ हूँ बंध से विरहित
 स द ।
 यह मानकर अभिमान में पुलकित वदन मस्तक उठा ॥
 जो समिति आलंबे महाव्रत आचरें पर पापमय ।
 दिग्मूढ़ जीवों का अरे जीवन नहीं अध्यात्ममय ॥१३७॥
 अपदपद में मत्त नित अन्धे जगत के प्राणियो ।
 यह पद तुम्हारा पद नहीं निज जानकर क्यों सो रहे ॥
 जागो इधर आओ रहो नित मगन परमानन्द में ।
 हो परमपदमय तुम स्वयं तुम स्वयं हो चैतन्यमय ॥१३८॥
 अरे जिसके सामने हों सभी पद भासित अपद ।
 सब आपदाओं से रहित आराध्य है वह ज्ञान पद ॥१३९॥
 उस ज्ञान के आस्वाद में ही नित रमे जो आतमा ।
 अर द्वन्दमय आस्वाद में असमर्थ है जो आतमा ॥
 आत्मानुभव के स्वाद में ही मगन है जो आतमा ।
 सामान्य में एकत्व को धारण करे वह आतमा ॥१४०॥
 सब भाव पी संवेदनाएँ मत्त होकर स्वयं ही ।
 हों उछलती जिस भाव में अद्भुतनिधि वह आतमा ॥
 भगवान वह चैतन्य रत्नाकर सदा ही एक है ।
 फिर भी अनेकाकार होकर स्वयं में ही उछलता ॥१४१॥
 पंचाग्नि तप या महाव्रत कुछ भी करो सिद्धि नहीं ।

जाने बिना निज आतमा जिनवर कहैं सब व्यर्थ
 ह । ।
 मोक्षमय जो ज्ञानपद वह ज्ञान से ही प्राप्त हो ।
 निज ज्ञान गुण के बिना उसको कोई पा सकता नहीं ॥१४२॥

(दोहा)

क्रियाकाण्ड से ना मिले, यह आतम अभिराम ।
 ज्ञानकला से सहज ही सुलभ आतमाराम ॥
 अतः जगत के प्राणियो ! छोड़ जगत की आश ।
 ज्ञानकला का ही अरे ! करो नित्य अभ्यास ॥१४३॥
 अचिंत्यशक्ति धारक अरे चिन्तामणि चैतन्य ।
 सिद्धारथ यह आतमा ही है कोई न अन्य ॥
 सभी प्रयोजन सिद्ध हैं फिर क्यों पर की आश ।
 ज्ञानी जाने यह रहस करे न पर की आश ॥१४४॥

(सोरठा)

सभी परिग्रह त्याग इसप्रकार सामान्य से ।
 विविध वस्तु परित्याग अब आगे विस्तार से ॥१४५॥

(दोहा)

होंय कर्म के उदय से, ज्ञानी के जो भोग ।
 परिग्रहत्व पावे नहीं, क्योंकि रागवियोग ॥१४६॥

(हरिगीत)

हम जिन्हें चाहें अरे उनका भोग हो सकता नहीं ।
 क्योंकि पल-पल प्रलय पावें वेद्य-वेदक भाव सब ॥
 बस इसलिए सबके प्रति अति ही विरक्त रहें सदा ।
 चाहें न कुछ भी जगत में निजतत्त्वविद विद्वानजन ॥१४७॥
 जबतक कषायित न करें सर्वांग फिटकरि आदि से ।
 तबतलक सूती वस्त्र पर सर्वांग रंग चढ़ता नहीं ॥

बस उसतरह ही रागरस से रिक्त सम्यग्ज्ञानिजन ।
 सब कर्म करते पर परीग्रहभाव को ना प्राप्त हों ॥१४८॥
 रागरस से रहित ज्ञानी जीव इस भूलोक में ।
 कर्मस्थ हों पर कर्मरज से लिप्त होते हैं नहीं ॥१४९॥
 स्वयं ही हों परिणमित स्वाधीन हैं सब वस्तुयें ।
 अर अन्य के द्वारा कभी वे नहीं बदली जा सकें ॥
 जिम परजनित अपराध से बंधते नहीं जन जगत में ।
 तिम भोग भोगें किन्तु ज्ञानीजन कभी बंधते
 न ह ीं । । १ ५ ० । ।
 कर्म करना ज्ञानियों को उचित हो सकता नहीं ।
 फिर भी भोगासक्त जो दुर्भुक्त ही वे जानिये ॥
 हो भोगने से बंध ना पर भोगने के भाव से ।
 तो बंध है बस इसलिए निज आतमा में रत रहो ॥१५१॥
 तू भोग मुझको ना कहे यह कर्म निज करतार को ।
 फलाभिलाषी जीव ही नित कर्मफल को भोगता ॥
 फलाभिलाषाविरत मुनिजन ज्ञानमय वर्तन करें ।
 सब कर्म करते हुए भी वे कर्मबंधन ना करें ॥१५२॥
 जिसे फल की चाह ना वह करे - यह जंचता नहीं ।
 यदि विवशता वश आ पड़े तो बात ही कुछ और है ॥
 अकंप ज्ञानस्वभाव में थिर रहें जो वे ज्ञानिजन ।
 सब कर्म करते या नहीं - यह कौन जाने
 वि ज्ञान । । १ ५ ३ । ।
 वज्र का हो पात जो त्रैलोक्य को विह्वल करे ।
 फिर भी अरे अतिसाहसी सदृष्टिजन निश्चल रहें ॥
 निश्चल रहें निर्भय रहें निशंक निज में ही रहें ।
 निसर्ग ही निजबोधवपु निज बोध से अच्युत रहें ॥१५४॥

इहलोक अर परलोक से मेरा न कुछ सम्बन्ध है ।
 अर भिन्न पर से एक यह चिल्लोक ही मम लोक है ॥
 जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
 वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥१५५॥
 चूंकि एक-अभेद में ही वेद्य-वेदक भाव हों ।
 अतएव ज्ञानी नित्य ही निजज्ञान का अनुभव करें ॥
 अन वेदना कोड़ है नहीं तब होंय क्यों भयभीत वे ।
 वे तो सतत् निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥१५६॥
 निज आतमा सत् और सत् का नाश हो सकता नहीं ।
 है सदा रक्षित सत् अरक्षाभाव हो सकता नहीं ॥
 जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
 वे तो सतत् निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥१५७॥
 कोई किसी का कुछ करे यह बात संभव है नहीं ।
 सब हैं सुरक्षित स्वयं में अगुप्ति का भय है नहीं ॥
 जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
 वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥१५८॥
 मृत्यु कहे सारा जगत बस प्राण के उच्छेद को ।
 ज्ञान ही है प्राण मम उसका नहीं उच्छेद हो ॥
 तब मरणभय हो किसतरह हों ज्ञानिजन भयभीत क्यों ।
 वे तो सतत निःशंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें ॥१५९॥
 इसमें अचानक कुछ नहीं यह ज्ञान निश्चल एक है ।
 यह है सदा ही एकसा एवं अनादि अनंत है ॥
 जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
 वे तो सतत निःशंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें ॥१६०॥

(दोहा)

नित निःशंक सदृष्टि को कर्मबंध न होय ।
पूर्वोदय को भोगते सतत निर्जरा होय ॥१६१॥
बंध न हो नव कर्म का पूर्व कर्म का नाश ।
नृत्य करें अष्टांग में सम्यग्ज्ञान प्रकाश ॥१६२॥

बंधाधिकार

(हरिगीत)

मदमत्त हो मदमोह में इस बंध ने नर्तन किया ।
रसराग के उद्गार से सब जगत को पागल किया ॥
उदार अर आनन्दभोजी धीर निरुपधि ज्ञान ने ।
अति ही अनाकुलभाव से उस बंध का मर्दन
किया । । १ ६ ३ । ।
कर्म की ये वर्गणाएँ बंध का कारण नहीं ।
अत्यन्त चंचल योग भी हैं बंध के कारण नहीं ॥
करण कारण हैं नहीं चिद्-अचिद् हिंसा भी नहीं ।
बस बंध के कारण कहे अज्ञानमय रागादि ही ॥१६४॥
भले ही सब कर्मपुद्गल से भरा यह लोक हो ।
भले ही मन-वचन-तन परिस्पन्दमय यह योग हो ॥
चिद् अचिद् का घात एवं करण का उपभोग हो ।
फिर भी नहीं रागादि विरहित ज्ञानियों को बंध हो ॥१६५॥
तो भी निरर्गल प्रवर्तन तो ज्ञानियों को वर्ज्य है ।
क्योंकि निरर्गल प्रवर्तन तो बंध का स्थान है ॥
वांछारहित जो प्रवर्तन वह बंध विरहित जानिये ।
जानना करना परस्पर विरोधी ही मानिये ॥१६६॥
जो ज्ञानीजन हैं जानते वे कभी भी करते नहीं ।
करना तो बस राग है जो करें वे जाने नहीं ॥
अज्ञानमय यह राग तो है भाव अध्यवसान ही ।

बंधकारण कहे ये अज्ञानियों के भाव ही ॥१६७॥
जीवन-मरण अर दुःख-सुख सब प्राणियोंके सदा ही ।
अपने कर्म के उदय के अनुसार ही हों नियम से ॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख ।
विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है ॥१६८॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख ।
मानते हैं जो पुरुष अज्ञानमय इस बात को ॥
कर्तृत्व रस से लबालब हैं अहंकारी वे पुरुष ।
भव-भव भ्रमें मिथ्यामती अर आत्मघाती वे पुरुष ॥१६९॥

(दोहा)

विविध कर्म बंधन करें जो मिथ्याध्यवसाय ।
मिथ्यामति निशदिन करें वे मिथ्याध्यवसाय ॥१७०॥
निष्फल अध्यवसान में मोहित हो यह जीव ।
सर्वरूप निज को करे जाने सब निजरूप ॥१७१॥

(रोला)

यद्यपि चेतन पूर्ण विश्व से भिन्न सदा है,
फिर भी निज को करे विश्वमय जिसके कारण ।
मोहमूल वह अधवसाय ही जिसके न हो,
परमप्रतापी दृष्टिवंत वे ही मुनिवर हैं ॥१७२॥

(आडिल्ल)

सब ही अध्यवसान त्यागने योग्य हैं,
यह जो बात विशेष जिनेश्वर ने कही ।
इसका तो स्पष्ट अर्थ यह जानिये,
अन्याश्रित व्यवहार त्यागने योग्य है ॥
परमशुद्धनिश्चयनय का जो ज्ञेय है,
शुद्ध निजातमराम एक ही ध्येय है ।

यदि ऐसी है बात तो मुनिजन क्यों नहीं,
शुद्धज्ञानघन आतम में निश्चल रहें ॥१७३॥

(सोरठा)

कहे जिनागम माँहि शुद्धातम से भिन्न जो ।
रागादिक परिणाम कर्मबंध के हेतु वे ॥
यहाँ प्रश्न अब एक उन रागादिक भाव का ।
यह आतम या अन्य कौन हेतु है अब कहें ॥१७४॥
अग्निरूप न होय सूर्यकान्तमणि सूर्य बिन ।
रागरूप न होय यह आतम परसंग बिन ॥१७५॥

(दोहा)

ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने विज्ञ सदीव ।
अपनापन ना राग में अतः अकारक जीव ॥१७६॥
ऐसे वस्तुस्वभाव को ना जाने अल्पज्ञ ।
धरे एकता राग में नहीं अकारक अज्ञ ॥१७७॥

(सवैया इकतीसा)

परद्रव्य हैं निमित्त परभाव नैमित्तिक,
नैमित्तिक भावों से कषायवान हो रहा ।
भावीकर्मबंधन हो इन कषायभावों से,
बंधन में आतमा विलायमान हो रहा ॥
इसप्रकार जान परभावों की संतति को,
जड़ से उखाड़ स्फुरायमान हो रहा ।
आनन्दकन्द निज-आतम के वेदन में,
निजभगवान शोभायमान हो रहा ॥१७८॥
बंध के जो मूल उन रागादिकभावों को,
जड़ से उखाड़ने उदीयमान हो रही ।
जिसके उदय से चिन्मयलोक की,

यह कर्मकालिमा विलीयमान हो रही ॥
जिसके उदय को कोई नहीं रोक सके,
अद्भुत शौर्य से विकासमान हो रही ।
कमर कसे हुए धीर-वीर गंभीर,
ऐसी दिव्यज्योति प्रकाशमान हो रही ॥१७९॥

मोक्ष अधिकार

(हरिगीत)

निज आतमा अर बंध को कर पृथक् प्रज्ञाछैनि से ।
सद्ज्ञानमय निज आत्म को कर सरस परमानन्द से ॥
उत्कृष्ट है कृतकृत्य है परिपूर्णाता को प्राप्त है ।
प्रगटित हुई वह ज्ञानज्योति जो स्वयं में व्याप्त
ह १ ८ ० । ।
सूक्ष्म अन्तःसंधि में अति तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनि
क ।
अति निपुणता से डालकर अति निपुणजन ने बन्ध को ॥
अति भिन्न करके आतमा से आतमा में जम गये ।
वे ही विवेकी धन्य हैं जो भवजलधि से तर गये ॥१८१॥
स्वलक्षणों के प्रबलबल से भेदकर परभाव को ।
चिद्लक्षणों से ग्रहण कर चैतन्यमय निजभाव को ॥
यदि भेद को भी प्राप्त हो गुण धर्म कारक आदि से ।
तो भले हो पर मैं तो केवल शुद्ध चिन्मयमात्र हूँ ॥१८२॥
है यद्यपि अद्वैत ही यह चेतना इस जगत में ।
किन्तु फिर भी ज्ञानदर्शन भेद से दो रूप है ॥
यह चेतना दर्शन सदा सामान्य अवलोकन करे ।
पर ज्ञान जाने सब विशेषों को तदपि निज में रहे ॥

कर्त्तापन अज्ञान से ज्ञान अकारकभाव ॥१९४॥

(रोला)

निजरस से सुविशुद्ध जीव शोभायमान है ।

झलके लोकालोक ज्योति स्फुरायमान है ॥

अहो अकर्त्ता आतम फिर भी बंध हो रहा ।

यह अपार महिमा जानो अज्ञानभाव की ॥१९५॥

(दोहा)

जैसे कर्त्तृस्वभाव नहीं वैसे भोक्तृस्वभाव ।

भोक्तापन अज्ञान से ज्ञान अभोक्ताभाव ॥१९६॥

(रोला)

प्रकृतिस्वभावरत अज्ञानी हैं सदा भोगते ।

प्रकृतिस्वभाव से विरत ज्ञानिजन कभी न भोगें ॥

निपुणजनो ! निजशुद्धात्ममय ज्ञानभाव को ।

अपनाओ तुम सदा त्याग अज्ञानभाव को ॥१९७॥

(सोरठा)

निश्चल शुद्धस्वभाव, ज्ञानी करे न भोगवे ।

जाने कर्मस्वभाव, इस कारण वह मुक्त है ॥१९८॥

(हरिगीत)

निज आतमा ही करे सबकुछ मानते अज्ञान से ।

हों यद्यपि वे मुमुक्षु पर रहित आतमज्ञान से ॥

अध्ययन करें चारित्र पालें और भक्ति करें पर ।

लौकिकजनों वत उन्हें भी तो मुक्ति की प्राप्ति न हो ॥१९९॥

(दोहा)

जब कोई संबंध ना पर अर आतम मांहि ।

तब कर्त्ता परद्रव्य का किसविध आत्म कहाँहि ॥२००॥

(रोला)

जब कोई संबंध नहीं है दो द्रव्यों में,

तब फिर कर्त्ताकर्मभाव भी कैसे होगा ?

इसीलिए तो मैं कहता हूँ निज को जानो;

सदा अकर्त्ता अरे जगतजन अरे मुनिजन ॥२०१॥

इस स्वभाव के सहज नियम जो नहीं जानते,

अरे विचारे वे तो डूबे भवसागर में ।

विविध कर्म को करते हैं बस इसीलिए वे,

भावकर्म के कर्त्ता होते अन्य कोई ना ॥२०२॥

अरे कार्य कर्त्ता के बिना नहीं हो सकता,

भावकर्म भी एक कार्य है सब जग जाने ।

और पौद्गलिक प्रकृति सदा ही रही अचेतन;

वह कैसे कर सकती चेतन भावकर्म को ॥

प्रकृति-जीव दोनों ही मिलकर उसे करें

य ि द ,

तो फिर दोनों मिलकर ही फल क्यों ना भोगें?

भावकर्म तो चेतन का ही करे अनुसरण,

इसकारण यह जीव कहा है उनका कर्त्ता ॥२०३॥

कोई कर्त्ता मान कर्म को भावकर्म का,

आतम का कर्त्तृत्व उड़ाकर अरे सर्वथा ।

और कथंचित् कर्त्ता आतम कहनेवाली;

स्याद्वादमय जिनवाणी को कोपित करते ॥

उन्हीं मोहमोहितमतिवाले अल्पज्ञों के,

संबोधन के लिए सहेतुक स्याद्वादमय ।

वस्तु का स्वरूप समझाते अरे भव्यजन,
 अब आगे की गाथाओं में कुन्दकुन्द मुनि ॥२०४॥
 अरे जैन होकर भी सांख्यों के समान ही,
 इस आतम को सदा अकर्त्ता तुम मत जानो ।
 भेदज्ञान के पूर्व राग का कर्त्ता आतम;
 भेदज्ञान होने पर सदा अकर्त्ता जानो ॥२०५॥
 जो कर्त्ता वह नहीं भोगता इस जगती में,
 ऐसा कहते कोई आतमा क्षणिक मानकर ।
 नित्यरूप से सदा प्रकाशित स्वयं आतमा,
 मानो उनका मोह निवारण स्वयं कर रहा ॥२०६॥
 (सोरठा)
 वृत्तिमान हो नष्ट, वृत्त्यंशों के भेद से ।
 कर्त्ता भोक्ता भिन्न; इस भय से मानो नहीं ॥२०७॥
 (रोला)
 यह आतम है क्षणिक क्योंकि यह परमशुद्ध है ।
 जहाँ काल की भी उपाधि की नहीं अशुद्धि ॥
 इसी धारणा से छूटा त्यों नित्य आतमा ।
 ज्यों डोरा बिन मुक्तामणि से हार न बनता ॥२०८॥
 कर्त्ता-भोक्ता में अभेद हो युक्तिवश से,
 भले भेद हो अथवा दोनों ही न होवें ।
 ज्यों मणियों की माला भेदी नहीं जा सके,
 त्यों अभेद आतम का अनुभव हमें सदा हो ॥२०९॥
 (दोहा)
 अरे मात्र व्यवहार से कर्मरु कर्त्ता भिन्न ।
 निश्चयनय से देखिये दोनों सदा अभिन्न ॥२१०॥

अरे कभी होता नहीं कर्त्ता के बिन कर्म ।
 निश्चय से परिणाम ही परिणामी का कर्म ॥
 सदा बदलता ही रहे यह परिणामी द्रव्य ।
 एकरूप रहती नहीं वस्तु की थिति नित्य ॥२११॥
 (रोला)
 यद्यपि आतमराम शक्तियों से है शोभित ।
 और लोटता बाहर-बाहर परद्रव्यों के ॥
 पर प्रवेश पा नहीं सकेगा उन द्रव्यों में ।
 फिर भी आकुल-व्याकुल होकर क्लेश पा रहा ॥२१२॥
 एक वस्तु हो नहीं कभी भी अन्य वस्तु की ।
 वस्तु वस्तु की ही है - ऐसा निश्चित जानो ॥
 ऐसा है तो अन्य वस्तु यदि बाहर लोटे ।
 तो फिर वह क्या कर सकती है अन्य वस्तु का ॥२१३॥
 स्वयं परिणामित एक वस्तु यदि परवस्तु का ।
 कुछ करती है - ऐसा जो माना जाता है ॥
 वह केवल व्यवहारकथन है निश्चय से तो ।
 एक दूसरे का कुछ करना शक्य नहीं है ॥२१४॥
 एक द्रव्य में अन्य द्रव्य रहता हो - ऐसा ।
 भासित कभी नहीं होता है ज्ञानिजनों को ॥
 शुद्धभाव का उदय ज्ञेय का ज्ञान, न जाने ।
 फिर भी क्यों अज्ञानीजन आकुल होते हैं ॥२१५॥
 शुद्धद्रव्य का निजरसरूप परिणामन होता ।
 वह पररूप या पर उसरूप नहीं हो सकते ॥
 अरे चाँदनी की ज्यों भूमि नहीं हो सकती ।
 त्यों ही कभी नहीं हो सकते ज्ञेय ज्ञान के ॥२१६॥
 तबतक राग-द्वेष होते हैं जबतक भाई !

ज्ञान-ज्ञेय का भेद ज्ञान में उदित नहीं हो ॥
 ज्ञान-ज्ञेय का भेद समझकर राग-द्वेष को,
 मेट पूर्णतः पूर्ण ज्ञानमय तुम हो जावो ॥२१७॥
 यही ज्ञान अज्ञानभाव से राग-द्वेषमय ।
 हो जाता पर तत्त्वदृष्टि से वस्तु नहीं ये ॥
 तत्त्वदृष्टि के बल से क्षयकर इन भावों को ।
 हो जाती है अचल सहज यह ज्योति प्रकाशित ॥२१८॥
 तत्त्वदृष्टि से राग-द्वेष भावों का भाई ।
 कर्त्ता-धर्त्ता कोई अन्य नहीं हो सकता ॥
 क्योंकि है अत्यन्त प्रगट यह बात जगत में ।
 द्रव्यों का उत्पाद स्वयं से ही होता है ॥२१९॥
 राग-द्वेष पैदा होते हैं इस आत्म में ।
 उसमें परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है ॥
 यह अज्ञानी अपराधी है इनका कर्त्ता ।
 यह अबोध हो नष्ट कि मैं तो स्वयंज्ञान हूँ ॥२२०॥
 अरे राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को ।
 एकमात्र कारण बतलाते जो अज्ञानी ॥
 शुद्धबोध से विरहित वे अंधे जन जग में ।
 अरे कभी भी मोहनदी से पार न होंगे ॥२२१॥
 जैसे दीपक दीप्य वस्तुओं से अप्रभावित ।
 वैसे ही ज्ञायक ज्ञेयों से विकृत न हो ॥
 फिर भी अज्ञानीजन क्यों असहज होते हैं ।
 न जाने क्यों व्याकुल हो विचलित होते हैं ॥२२२॥
 राग-द्वेष से रहित भूत-भावी कर्मों से ।
 मुक्त स्वयं को वे नित ही अनुभव करते हैं ॥
 और स्वयं में रत रह ज्ञानमयी चेतनता ।

को धारण कर निज में नित्य मगन रहते
 ह ॥ २ २ ३ ॥
 ज्ञान चेतना शुद्ध ज्ञान को करे प्रकाशित ।
 शुद्धज्ञान को रोके नित अज्ञान चेतना ॥
 और बंध की कर्त्ता यह अज्ञान चेतना ।
 यही जान चेतो आत्म नित ज्ञान चेतना ॥२२४॥
 भूत भविष्यत वर्तमान के सभी कर्म कृत ।
 कारित अर अनुमोदनादि मैं सभी ओर से ॥
 सबका कर परित्याग हृदय से वचन-काय से ।
 अवलम्बन लेता हूँ परम निष्कर्मभाव का ॥२२५॥
 मोहभाव से भूतकाल में कर्म किये जो ।
 उन सबका ही प्रतिक्रमण करके अब मैं तो ॥
 वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२६॥
 मोहभाव से वर्तमान में कर्म किये जो ।
 उन सबका आलोचन करके ही अब
 म त ॥
 वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२७॥
 नष्ट हो गया मोहभाव जिसका ऐसा मैं ।
 करके प्रत्याख्यान भाविकर्मों का अब तो ॥
 वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२८॥
 तीन काल के सब कर्मों को छोड़ इसतरह ।
 परमशुद्धनिश्चयनय का अवलम्बन लेकर ॥
 निर्मोही हो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२२९॥

कर्म वृक्ष के विषफल मेरे बिन भोगे ही ।
 खिर जायें बस यही भावना भाता हूँ मैं ॥
 क्योंकि मैं तो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के ।
 शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥२३०॥
 सब कर्मों के फल से सन्यासी होने से ।
 आतम से अतिरिक्त प्रवृत्ति से निवृत्त हो ॥
 चिद्लक्षण आतम को अतिशय भोग रहा हूँ ।
 यह प्रवृत्ति ही बनी रहे बस अमित इस काल तक ॥२३१॥
 (वसंततिलका)
 रे पूर्वभावकृत कर्मजहरतरु के ।
 अज्ञानमय फल नहीं जो भोगते हैं ॥
 हो तृप्त स्वयं में चिरकाल तक वे ।
 निष्कर्म सुखमय दशा को भोगते हैं ॥२३२॥
 रे कर्मफल से सन्यास लेकर ।
 सद्ज्ञान चेतना को निज में नचाओ ॥
 प्याला पियो नित प्रशमरस का निरन्तर ।
 सुख में रहो अभी से चिरकालतक तुम ॥२३३॥
 (दोहा)
 अपने में ही मगन है अचल अनाकुल ज्ञान ।
 यद्यपि जाने ज्ञेय को तदपि भिन्न ही जान ॥२३४॥
 (हरिगीत)
 है अन्य द्रव्यों से पृथक् विरहित ग्रहण अर त्याग से ।
 यह ज्ञाननिधिनिज में नियत वस्तुत्व को धारण किये ॥
 है आदि-अन्त विभाग विरहित स्फुरित आनन्दघन ।
 होसहज महिमाप्रभाभास्वर शुद्ध अनुपम ज्ञानघन ॥२३५॥

जिनने समेटा स्वयं ही सब शक्तियों को स्वयं में ।
 सब ओर से धारण किया हो स्वयं को ही स्वयं में ॥
 मानो उन्हीं ने त्यागने के योग्य जो वह तज दिया ।
 अर जो ग्रहण के योग्य वह सब भी उन्हीं ने पालिया ॥२३६॥
 (सोरठा)
 ज्ञानस्वभावी जीव परद्रव्यों से भिन्न ही ।
 कैसे कहें सदेह जब आहारक ही नहीं ॥२३७॥
 शुद्धज्ञानमय जीव के जब देह नहीं कही ।
 तब फिर यह द्रवलिङ्ग शिवमग कैसे हो सके ॥२३८॥
 (दोहा)
 मोक्षमार्ग बस एक ही रत्नत्रयमय होय ।
 अतः मुमुक्षु के लिए वह ही सेवन योग्य ॥२३९॥
 (हरिगीत)
 दृग्ज्ञानमय वृत्त्यात्मक यह एक ही है मोक्षपथ ।
 थित रहें अनुभव करें अर ध्यावें अहिर्निश जो पुरुष ॥
 जो अन्य को न छुयें अर निज में विहार करें सतत ।
 वे पुरुष ही अतिशीघ्र ही समैसार को पावे
 उ दि द त । । २ ४ ० । ।
 जो पुरुष तज पूर्वोक्त पथ व्यवहार में वर्तन करें ।
 तर जायेंगे यह मानकर द्रव्यलिङ्ग में ममता धरें ॥
 वे नहीं देखें आत्मा निज अमल एक उद्योतमय ।
 अर अखण्ड अभेदचिन्मय अज अतुल आलोकमय ॥२४१॥
 तुष माँहि मोहित जगतजन ज्यों एक तुष ही जानते ।
 वे मूढ तुष संग्रह करें तन्दुल नहीं पहिचानते ॥
 व्यवहारमोहित मूढ त्यों व्यवहार को ही जानते ।

आनन्दमय सद्ज्ञानमय परमार्थ नहीं पहिचानते ॥२४२॥
 यद्यपि परद्रव्य है द्रवलिंग फिर भी अजज्ञन ।
 बस उसी में ममता धरें द्रवलिंग मोहित अन्धजन ॥
 देखें नहीं जाने नहीं सुखमय समय के सार को ।
 बस इसलिए ही अज्ञान पाते नहीं भवपार को ॥२४३॥
 क्या लाभ है ऐसे अनल्प विकल्पों के जाल से ।
 बस एक ही है बात यह परमार्थ का अनुभव करो ॥
 क्योंकि निजरसभरित परमानन्द के आधार से ।
 कुछ भी नहीं है अधिक सुनलो इस समय के सार से ॥२४४॥

(दोहा)

ज्ञानानन्दस्वभाव को करता हुआ प्रत्यक्ष ।
 अरे पूर्ण अब हो रहा यह अक्षय जगचक्षु ॥२४५॥
 इसप्रकार यह आत्मा अचल अबाधित एक ।
 ज्ञानमात्र निश्चित हुआ जो अखण्ड संवेद्य ॥२४६॥

परिशिष्ट

(कुण्डलिया)

यद्यपि सब कुछ आ गया कुछ भी रहा न शेष ।
 फिर भी इस परिशिष्ट में सहज प्रमेय विशेष ॥
 सहज प्रमेय विशेष उपायोपेय
 भ । व म य ।
 ज्ञानमात्र आत्म समझाते स्याद्वाद से ॥
 परमव्यवस्था वस्तुतत्त्व की प्रस्तुत करके ।
 परमज्ञानमय परमात्म का चिन्तन करते ॥२४७॥

(हरिगीत)

बाह्यार्थ ने ही पी लिया निजव्यक्तता से रिक्त जो ।

वह ज्ञान तो सम्पूर्णतः पररूप में विश्रान्त है ॥
 पर से विमुख हो स्वोन्मुख सद्ज्ञानियों का ज्ञान तो ।
 'स्वरूप से ही ज्ञान है' – इस मान्यता से पुष्ट है ॥२४८॥
 इस ज्ञान में जो झलकता वह विश्व ही बस ज्ञान है ।
 अबुध ऐसा मानकर स्वच्छन्द हो वर्तन करें ॥
 अर विश्व को जो जानकर भी विश्वमय होते नहीं ।
 वे स्याद्वादी जगत में निजतत्त्व का अनुभव करें ॥२४९॥
 छिन-भिन्न हो चहुँ ओर से बाह्यार्थ के परिग्रहण से ।
 खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होता स्वयं अज्ञानी पशु ॥
 एकत्व के परिज्ञान से भ्रमभेद जो परित्याग दें ।
 वे स्याद्वादी जगत में एकत्व का अनुभव करें ॥२५०॥
 जो मैल ज्ञेयाकार का धो डालने के भाव से ।
 स्वीकृत करें एकत्व को एकान्त से वे नष्ट हों ॥
 अनेकत्व को जो जानकर भी एकता छोड़े नहीं ।
 वे स्याद्वादी स्वतःक्षालित तत्त्व का अनुभव करें ॥२५१॥
 इन्द्रियों से जो दिखे ऐसे तनादि पदार्थ में ।
 एकत्व कर हों नष्ट जन निजद्रव्य को देखें नहीं ॥
 निजद्रव्य को जो देखकर निजद्रव्य में ही रत रहें ।
 वे स्याद्वादी ज्ञान से परिपूर्ण हो जीवित रहें ॥२५२॥
 सब द्रव्यमय निज आत्मा यह जगत की
 द ु व ा ' स न ा ।
 बस रत रहे परद्रव्य में स्वद्रव्य के भ्रमबोध से ॥
 परद्रव्य के नास्तित्व को स्वीकार सब द्रव्य में ।
 निजज्ञान बल से स्याद्वादी रत रहें निजद्रव्य में ॥२५३॥

परक्षेत्रव्यापीज्ञेय-ज्ञायक आतमा परक्षेत्रमय ।
 यह मानकर निजक्षेत्र का अपलाप करते अज्ञजन ॥
 जो जानकर परक्षेत्र को परक्षेत्रमय होते नहीं ।
 वे स्याद्वादी निजरसी निजक्षेत्र में जीवित रहें ॥२५४॥
 मैं ही रहूँ निजक्षेत्र में इस भाव से परक्षेत्रगत ।
 जो ज्ञेय उनके साथ ज्ञायकभाव भी परित्याग कर ॥
 हों तुच्छता को प्राप्त शठ पर ज्ञानिजन परक्षेत्रगत ।
 रे छोड़कर सब ज्ञेय वे निजक्षेत्र को छोड़े नहीं ॥२५५॥
 निजज्ञान के अज्ञान से गतकाल में जाने गये ।
 जो ज्ञेय उनके नाश से निज नाश माने अज्ञजन ॥
 नष्ट हों परज्ञेय पर ज्ञायक सदा कायम रहे ।
 निजकाल से अस्तित्व है - यह जानते हैं
 विज्ञान । । २ ५ ६ । ।
 अर्थालम्बनकाल में ही ज्ञान का अस्तित्व है ।
 यह मानकर परज्ञेयलोभी लोक में आकुल रहें ॥
 परकाल से नास्तित्व लखकर स्याद्वादी विज्ञजन ।
 ज्ञानमय आनन्दमय निज आतमा में दृढ़ रहें ॥२५७॥
 परभाव से निजभाव का अस्तित्व माने अज्ञजन ।
 पर में रमें जग में भ्रमे निज आतमा को भूलकर ॥
 पर भिन्न हो परभाव से ज्ञानी रमे निजभाव में ।
 बस इसलिए इस लोक में वे सदा ही जीवित
 रहें । । २ ५ ८ । ।
 सब ज्ञेय ही हैं आतमा यह मानकर स्वच्छन्द
 ह ।
 परभाव में ही नित रमें बस इसलिए ही नष्ट हों ॥

पर स्याद्वादी तो सदा आरूढ़ हैं निजभाव में ।
 विरहित सदा परभाव से विलसैं सदा निष्कम्प हो ॥२५९॥
 उत्पाद-व्यय के रूप में वहते हुए परिणाम लख ।
 क्षणभंग के पड़ संग निज का नाश करते अज्ञजन ॥
 चैतन्यमय निज आतमा क्षणभंग है पर नित्य भी-
 यह जानकर जीवित रहें नित स्याद्वादी विज्ञजन ॥२६०॥
 है बोध जो टंकोत्कीर्ण विशुद्ध उसकी आश से ।
 चिद्व्यवस्थिति निर्मल उछलती से सतत् इन्कार कर ॥
 अज्ञजन हों नष्ट किन्तु स्याद्वादी विज्ञजन ।
 अनित्यता में व्याप्त होकर नित्य का अनुभव करें ॥२६१॥

(दोहा)

मूढ़जनों को इसतरह ज्ञानमात्र समझाय ।
 अनेकान्त अनुभूति में उतरा आतमराय ॥२६२॥
 अनेकान्त जिनदेव का शासन रहा अलंघ्य ।
 वस्तुव्यवस्था थापकर थापित स्वयं प्रसिद्ध ॥२६३॥

(रोला)

इत्यादिक अनेक शक्ति से भरी हुई है ।
 फिर भी ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ती ॥
 और क्रमाक्रमभावों से जो मेचक होकर ।
 द्रव्य और पर्यायमयी चिद्वस्तु लोक में ॥२६४॥
 अनेकान्त की दिव्यदृष्टि से स्वयं देखते ।
 वस्तुतत्त्व की उक्त व्यवस्था अरे सन्तजन ॥
 स्याद्वादकी अधिकाधिक शुद्धिको लख अर ।
 नहीं लांघकर जिननीति को ज्ञानी होते ॥२६५॥

(वसंततिलका)

रे ज्ञानमात्र निज भाव अकंपभूमि ।

को प्राप्त करते जो अपनीतमोही ॥
 साधकपने को पा वे सिद्ध होते ।
 अर अज्ञ इसके बिना परिभ्रमण करते ॥२६६॥
 स्याद्वादकौशल तथा संयम सुनिश्चिल ।
 से ही सदा जो निज में जमे हैं ॥
 वे ज्ञान एवं क्रिया की मित्रता से ।
 सुपात्र हो पाते भूमिका को ॥२६७॥
 उदितप्रभा से जो सुप्रभात करता ।
 चित्पिण्ड जो है खिला निज रमणता से ॥
 जो अस्खलित है आनन्दमय वह ।
 होता उदित अद्भुत अचल आतम ॥२६८॥
 महिमा उदित शुद्धस्वभाव की नित ।
 स्याद्वाददीपित लसत् सद्ज्ञान में जब ॥
 तब बंध-मोक्ष मग में आपतित भावों ।
 से क्या प्रयोजन है तुम ही बताओ ॥२६९॥
 निज शक्तियों का समुदाय आतम ।
 विनष्ट होता नयदृष्टियों से ॥
 खंड-खंड होकर खण्डित नहीं मैं ।
 एकान्त शान्त चिन्मात्र अखण्ड हूँ मैं ॥२७०॥
 (रोला)
 परज्ञेयों के ज्ञानमात्र मैं नहीं जिनेश्वर ।
 मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ निश्चित जानो ॥
 ज्ञेयों के आकार ज्ञान की कल्लोलों से ।
 परिणत ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयमय वस्तुमात्र
 ह ूँ । । २ ७ १ । ।

अरे अमेचक कभी कभी यह मेचक दिखता ।
 कभी मेचकामेचक यह दिखाई देता है ॥
 अनंत शक्तियों का समूह यह आतम फिर भी ।
 दृष्टिवंत को भ्रमित नहीं होने देता है ॥२७२॥
 एक ओर से एक स्वयं में सीमित अर ध्रुव ।
 अन्य ओर से नेक क्षणिक विस्तारमयी है ॥
 अहो आतमा का अद्भुत यह वैभव देखो ।
 जिसे देखकर चकित जगतजन ज्ञानी होते ॥२७३॥
 एक ओर से शान्त मुक्त चिन्मात्र दीखता ।
 अन्य ओर से भव-भवपीडित राग-द्वेषमय ॥
 तीन लोकापार शक्तिन देना विविध नामों से ।

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है । इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है । इसप्रकार आत्मध्यानरूप चारित्र के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही । अन्ततः यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है ।

सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है । इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है । जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्मध्यान होता है तो उसी समय आत्मप्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसीसमय होता है; सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एक नाम आत्मानुभूति है ।

- आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२२१

ज्यों शब्द अपनी शक्ति से ही तत्त्व प्रतिपादन करें ।